एक फिरंगी राजा

रोमेश बेदी

चुटकी भर नमक: पसेरी भर अन्याय

इरपिंदर भाटिया

एक फिरंगी राजा

रोमेश बेदी

सौ वर्ष पूरे हुए हैं, हिन्द स्वराज को लिखे हुए। पुस्तक में 'स्वराज क्या है' नामक अध्याय में पाठक संपादक से कहता है कि "अंग्रेजों के राज-कारोबार से देश कंगाल होता जा रहा है। वे हर साल देश से धन ले जाते हैं।" कड़वी सचाई के इस लंबे संवाद से कोई सड़सठ बरस पहले की एक सच्ची घटना का वर्णन है फिरंगी राजा के इस किस्से में। इसमें अच्छा-बुरा सब कुछ है। हिन्द स्वराज में गांधीजी ने अपने इस पाठक से कहा था कि "अच्छा हम मान लें कि हमारी मांग के मुताबिक अंग्रेज चले गए। उसके बाद आप क्या करेंगे।" पाठक का जवाब था, "उनका बनाया हुआ विधान हम चालू रखेंगे और राज का कारोबार चलाएंगे।" तब गांधीजी ने कहा था: "आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं।" किस्सा यही बताता है कि बाघ गया पर उसका स्वभाव आज भी बना हुआ है।

महाभारत के युद्ध के बाद पांडवों ने जीवन मुक्ति के लिए हिमालय की कठिन राह पकड़ी थी। यहीं से वे स्वर्ग सिधार गए थे। द्वापर की इस घटना के बाद इस कलियुग में भी हम एक अंग्रेज की कथा सुनते हैं जो युद्ध की त्रासदी से विमुख होकर हिमालय की शरण में आया

था। इस फिरंगी का नाम विलसन था। पहले अफगान युद्ध (सन् 1842) में अमीर शेर अली (दोस्त मोहम्मद के बेटे) के हाथों से अंग्रेजों की करारी हार हुई थी। उस अपमानजनक हार के बाद विलसन उत्तराखंड में शरण लेने चला गया था। गंगोत्री से 13 किलोमीटर पहले मुखवा नाम के गांव में उसे शरण मिली थी। भागीरथी घाटी में आखिरी गांव मुखवा है। इसमें गंगा के पुजारी रहते हैं। इन्हें गंगोत्री के पंडे कहते हैं। सर्दियां शुरू होने पर गंगोत्री मंदिर के कपाट बंद हो जाते हैं। तब अधिष्ठातृ देवी की प्रतिमा को मुखवा में लाकर प्रतिष्ठित कर देते हैं।

विलसन ने अपनी बंदूक सहित मुखवा में जब कदम रखा तो पहले-पहल खेतों में से उसके गुजरने पर बहुएं और माताएं डर कर भाग जाती थीं। उन्होंने ऐसा लंबा तगड़ा लाल चेहरे वाला 'दैत्य' पहले कभी नहीं देखा था।

सैकड़ों साल पहले किन्हीं मजबूरियों के कारण मुखवा के पंडे भी इधर चले आए थे। मुखवा में 1983 में सेमवाल पंडों के लगभग 100 तथा दूसरी जातियों के 30 घर थे। कुछ ठाकुर थे और कुछ हरिजन। 134 साल पहले मुखवा की छोटी-सी बस्ती में सेमवालों के कुछ घरों के अलावा 4-5 घर बाजगी के थे। बाजगी जात के इन लोगों को मंदिर में देवोत्थान के समय बाजा बजाने के लिए सेमवालों ने यहां बसाया था।

मुखवा के ब्राह्मण तो विलसन को म्लेच्छ ही समझते थे। गांव के मौतगु दास ने उसे आश्रय दिया। दास अस्पृश्य माने जाते थे। उनका मुख्य काम ढोल, नगाड़ा और तुरही बजाना था। शुभ-अशुभ सभी कार्यों में वे बाजे बजाते। ये सामान्यतया सवर्णों के घरों और मंदिरों के भीतर नहीं जाते थे। मंदिर के आंगन में ही प्रवेश द्वार की सीढ़ियों के पास खड़े होकर ढोल बजाकर देवोत्थान करते। शादी जैसे मंगल कार्यों में और शव यात्रा में बाजे बजाते। इनके मुख्य बाजे हैंः ढोल, नगाड़ा, रणसिंहा (तुरही), भेरी, क्लरिओनेट और शहनाई। ये बजाने का पेशा करते इसलिए गढ़वाल में इन्हें बाजगी कहते हैं।

बाजगियों से मिलता-जुलता पेशा करने वाली एक जाति है- बेड़ा या बादी। गांवों और गलियों में ये ढोलक पर नाचते, बदलते मौसम के गीत

गाते, दर्शकों और श्रोताओं का मनोरंजन करते। वसंत ऋतु में जब पहाड़ और घाटियां सजी-संवरी होतीं तब बादी नर्तक और गायक समा बांध देते। मैदानों में जब किसी के लिए हरिजन शब्द का प्रयोग करते हुए सुनते हैं तो झट ख्याल आता है कि वह भंगी का काम करता होगा। गढ़वाल में हरिजन शब्द इस भाव को प्रकट नहीं करता। वहां घरों से मैला उठाने का काम कोई नहीं करता। गढ़वाल में बाजगियों, बादियों, लोहारों, बढ़इयों, नाइयों और दर्जियों की गणना हरिजनों में की जाती रही है।

मुखवा के सवर्णों और दासों में अंतर यह था कि दास अनपढ़, गरीब, भूमिहीन और हर तरह से पंडों पर आश्रित थे। पंडों से उन्हें जो अनाज तथा दान मिल जाता था, उस पर गुजर कर संतुष्ट रहते थे।

हरसिल वाले बंगले के आंगन में धूप में फैलाए हुए नाफों की तादाद इतनी अधिक हो जाती कि उनकी तुलना सूखे हुए गेहूं के दानों से की जाती थी! कस्तूरी ने उसका भाग्य पलट दिया। उसे बेच कर वह मालामाल हो गया।

विलसन के आने से उनके जीवन में परिवर्तन आने लगा। वह उन्हें अपने साथ शिकार पर जंगल ले जाता था और मजदूरी में नकद पैसे देता था। उन दिनों यहां दैनिक मजदूरी की दर एक आना प्रति व्यक्ति होती थी। विलसन उन्हें दो आना देने लगा था।

शिकार में विलसन का मुख्य लक्ष्य तो मुनाल नामक पक्षी और कस्तूरी मृग होते थे, पर भरल, तुतराल आदि जो भी सामने आ जाता, वह उसे मार लेता। उनकी खालें वह खुद सावधानी से उतारता, जिससे वे क्षतिग्रस्त न हों। अपने सहायक शिकारियों, मुखवा के दासों को भी उसने खलियाना सिखा दिया था। खालों का प्रारंभिक उपचार वह यहीं पर करके उन्हें जमा करता था। बेहद ठंडी जलवायु में वे खराब नहीं होती थीं। काफी मात्रा में कस्तूरी का नाफा, खालें जमा हो जाने पर वह उन्हें मसूरी-देहरादून में बेच आता। उन दिनों टकनोरी लोग मांस के लिए कस्तूरी मृग का शिकार किया करते थे। कस्तूरी के नाफों को मामूली सी कीमत में बेच देते थे। विलसन से उन्होंने कस्तूरी

की कद्र करनी सीखी। सारा गांव हांका करके कस्तूरी मृगों को विलसन की तरफ खदेड़ देता। शिकार के एक ही दौर में वह ढेर सारे मृग मार लेता। उनके नाफे काट कर खाल और गोश्त हकैयों में बांट देता। निर्यात करने से पहले नाफे धूप में सुखाए जाते। हरसिल वाले बंगले के आंगन में धूप में फैलाए हुए नाफों की तादाद इतनी अधिक हो जाती कि उनकी तुलना सूखे हुए गेहूं के दानों से की जाती थी! कस्तूरी ने उसका भाग्य पलट दिया। उसे बेच कर वह मालामाल हो गया।

विलसन उत्तराखंड के कठिन तथा दुर्गम इलाकों में वनों का दोहन करने वाला, प्रदेश में कीमती इमारती लकड़ी को प्राकृतिक जल-धाराओं, नदियों के जरिए बहाकर नीचे मैदान में ले जाने वाला पहला आदमी था। भागीरथी की वेगवती धारा के जरिए वह अपनी लकड़ी को नीचे हरिद्वार तक बहा ले जाता था। वैज्ञानिक बताए गए वन दोहन के इतिहास में यह युगान्तकारी कदम था।

अब विलसन का व्यापारिक मस्तिष्क हिमालय के इन अछूते जंगलों को दोहने की एक बड़ी योजना पर काम कर रहा था। उसे शुरू करने की अनुमति लेने वह टिहरी दरबार पहुंचा। भागीरथी घाटी में खड़े लंबे और मोटे तने वाले देवदार वृक्षों को काटकर वह उनकी कीमती लकड़ी को मैदानों में बेचना चाहता था। महाराजा उसकी योजना को सुनकर हंसे। उन्होंने अचंभे से पूछा कि इस कीमती लकड़ी को भला मैदानों तक ढोकर कैसे ले जाओगे?

टिहरी गढ़वाल के इतिहास में शायद पहली बार सन् 1850 के आसपास विलसन ने अछूते शंकु वनों का 400 रुपए की नाममात्र वार्षिक राशि देकर अप्रतिबंधित पट्टा हासिल कर लिया। जंगल के पट्टेदार के रूप में विलसन ने निस्संदेह ऊंचे पहाड़ों के अछूते जंगलों का अंधाधुंध विनाश किया। करीब 15 बरस तक वह पूरी निष्ठुरता से अपना कुल्हाड़ा चलाता रहा और उसने टकनौर, बाड़ाहाट तथा भंदर्सू के पहाड़ों को देवदार के पके वृक्षों से विहीन कर दिया। उसके दोहन ने चुन-चुन कर सबसे बढ़िया माल

उठा लिया और काटे हुए अधिकांश पेड़ों को जंगल की धरती पर सड़ने के लिए छोड़ दिया।

एस.पी. साही ने नॉर्दर्न फारेस्ट रेंजर्स कॉलेज मैगजीन के सन् 1961-62 के अंक में लिखा है कि विलसन द्वारा जंगल में छोड़े गए माल, वृक्षों के लट्ठे और पुराने ठूंठों के दूर-दूर तक फैले कब्रिस्तान थे। मौसम के विनाशकारी थपेड़ों की मार खाते हुए इन्हें लगभग एक शताब्दी का लंबा समय गुजर चुका था।

विलसन उत्तराखंड के कठिन तथा दुर्गम इलाकों में वनों का दोहन करने वाला, प्रदेश में कीमती इमारती लकड़ी को प्राकृतिक जल-धाराओं, नदियों के जरिए बहाकर नीचे मैदान में ले जाने वाला पहला आदमी था। भागीरथी की वेगवती धारा के जरिए वह अपनी लकड़ी को नीचे हरिद्वार तक बहा ले जाता था। वैज्ञानिक बताए गए वन दोहन के इतिहास में यह युगान्तकारी कदम था। बहान को व्यवस्थित करने के लिए उसने भागीरथी और उसकी सहायक नदियों के प्रवाह के साथ बार-बार यात्रा करके विभिन्न महीनों में भागीरथी के स्वाभाविक स्वरूप का बारीकी से अध्ययन किया। मार्ग की सभी संभावित बाधाओं तथा कठिनाइयों का जायजा लिया और तब जलावतरण के लिए अनुकूलतम मौसम का सही-सही निर्धारण किया था।

महत्त्वाकांक्षी विलसन जब चरम उत्कर्ष पर था तो कुछ लोग उससे डाह करने लगे। इन लोगों ने ब्रिटिश अधिकारियों के कान भरे। उनका सबसे बड़ा आरोप था कि विलसन अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की दिशा में सक्रिय है। उसने अपनी मुद्रा प्रणाली तो जारी कर ही दी है।

लंबे पेड़ों को काटकर वह बेलनाकार तने की डेढ़ से दो मीटर लंबी गेलियां बनवाता। सूख जाने पर गेलियों को नदी में बहा दिया जाता और फिर हरिद्वार में उन्हें पकड़ लिया जाता। देवदार की एक गेली तीन दिन और तीन रात में हरसिल से हरिद्वार पहुंचती थी। उन दिनों आरे से चिरान करके पहाड़ में शहतीर नहीं बनाए जाते थे।

टकनौर, बाड़ाहाट और भंदर्सू के विस्तृत क्षेत्रों में एक समान मोटाई के तने वाले देवदार के नए वृक्षों की अब जो फसल खड़ी है, उसमें अधिक उम्र वाले वृक्षों का पूर्णतया अभाव एक खास बात है।

पहाड़ों पर आने-जाने के परंपरागत मार्गों में जरूरत के अनुसार फेर-बदल कर विलसन ने अपने काम के लिए नए रास्ते, पगडंडियां बना ली थीं। उन पर पुल बनाए थे। हरसिल, कांट बंगाला (उत्तरकाशी), धरासू, धनोल्टी, काणा ताल, झालकी और मसूरी में उसने बंगले बनाए थे। उसके विकसित किए हुए मार्गों को विलसन मार्ग कहा जाने लगा था। मसूरी से मुखवा तक विलसन मार्ग थाः मसूरी-धनोल्टी-काणा ताल-बंदवाल गांव होते हुए भल्दियाणा। वहां से भागीरथी पार करके लंबगांव होते हुए नगुणा। नगुणा से धरासू-डुण्डा-उत्तरकाशी-मनेरी-भटवाड़ी-गंगनानी-सुक्खी-झाला-हरसिल-मुखवा।

विलसन के कारोबार में मुखवा गांव का प्रायः हर परिवार किसी-न-किसी रूप में जुड़ गया था। उनके पास बड़ी संख्या में विलसन के सिक्के रहते थे। विलसन का कारोबार खत्म हो जाने पर इन सिक्कों की कद्र जाती रही। लोगों के घरों में ढेर-के-ढेर पड़े सिक्के एकाएक बेकार हो गए। नई पीढ़ी के लोग बताते थे कि इन्हें बूढ़ी दादियों ने तराजू के पलड़े में चढ़ाकर धातु के प्रचलित भाव पर फेरी वालों तथा कबाड़ियों को बेच दिया था।

विलसन के सभी मार्गों पर उसके गुमाश्ते लगातार तैनात रहते। हरसिल से हरिद्वार तक उसके हजारों लोग पेड़ों की छपान-कटान, चिरान, बहान और ढुलान के कामों में लगे रहे। इस हलचल से सैकड़ों लोगों का आना-जाना बढ़ गया था। विलसन अपने हर काम के लिए पैसा देता था। बाद में तो उसने अपना ही सिक्का चला दिया था। अब तो क्षेत्र में लेन-देन में विलसन की हुंडी तथा सिक्का चलने लगा और हरिद्वार पार तक इनका प्रचलन हो गया था। विलसन की मुद्रा प्रणाली, टोकन को लोग पहाड़ों के परिवेश और प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यावहारिक और लाभदायक बताते थे। इस

प्रणाली में एक, दो, पांच और दस रुपए की मुद्राएं, टोकन जारी किए गए थे।

भागीरथी घाटी में इस बेताज फिरंगी राजा का बरसों अघोषित राज्य रहा। जन-साधारण उसका आदर तक करने लगे थे।

वह दूरदराज की इस घाटी में आया तो बस एक शिकारी की तरह था। पर फिर वह धीरे-धीरे कुशल व्यापारी, चतुर राजनीतिज्ञ और योग्य डॉक्टर के रूप में उभर आया। उसके कामों का सिक्का तो गढ़वालवासियों के दिलो-दिमाग में जम ही गया था। और अब टकसाली सिक्का भी यहां के समाज के व्यापारिक लेन-देन में जम चला था।

महत्त्वाकांक्षी विलसन जब चरम उत्कर्ष पर था तो कुछ लोग उससे डाह करने लगे। इन लोगों ने ब्रिटिश अधिकारियों के कान भरे। उनका सबसे बड़ा आरोप था कि विलसन अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की दिशा में सक्रिय है। उसने अपनी मुद्रा प्रणाली तो जारी कर ही दी है। इस आरोप को बेबुनियाद बताते हुए वाक्पटु विलसन ने तर्क दिया कि तथाकथित विलसन मुद्रा तो महज एक टोकन प्रणाली थी, जो लोगों की सुविधा के लिए जारी की गई थी। नकद रुपया लेने, भुनाने, लाने-ले जाने में चोरी और लूट का खतरा बना रहता था। विलसन टोकन प्रणाली में ऐसे खतरे नहीं थे। विलसन ने हिमालय में खूब दौलत कमाई। गढ़वाल के लोग उसे सोना कु सौथलो (सोने की चिड़िया) कहते थे। इन लोगों ने विलसन नाम को गढ़वाली बोली के अनुरूप बदल लिया था। अब वे उसे हुलसिंह साहिब कहते थे।

विलसन के कारोबार में मुखवा गांव का प्रायः हर परिवार किसी-न-किसी रूप में जुड़ गया था। उनके पास बड़ी संख्या में विलसन के सिक्के रहते थे। विलसन का कारोबार खत्म हो जाने पर इन सिक्कों की कद्र जाती रही। लोगों के घरों में ढेर-के-ढेर पड़े सिक्के एकाएक बेकार हो गए। नई पीढ़ी के लोग बताते थे कि इन्हें बूढ़ी दादियों ने तराजू के पलड़े में चढ़ाकर धातु के प्रचलित भाव पर फेरी वालों तथा कबाड़ियों को बेच दिया था।

भागीरथी घाटी तब आर्थिक दृष्टि से बेहद पिछड़ी हुई मानी जाती थी। जंगलों का दोहन तो होता ही नहीं था। पहाड़ी भूमि में धन-धान्य,

स्वादिष्ट फल और सब्जियों की लाभदायक फसलें नहीं उगाई जाती थीं। विलसन ने यहां बागवानी और उन्नत कृषि की नींव डाली। उसने सेब, आलू बुखारा, खुमानी और नाशपाती के कई बगीचे लगाए। अपने हरसिल बंगले के सामने फलों का एक बड़ा बगीचा लगाया। उसके रोपे हुए पेड़ सालों तक फल देते रहे। उससे प्रेरणा पाकर दूसरे लोगों ने फलों के वृक्ष लगाए। मुखवा गांव के लोग बताते हैं कि आजकल सेबों की जो उन्नत किस्में उगाई जा रही हैं, उनसे विलसन के सेब कहीं अच्छे थे। रूप-रंग, आकार, रसीलापन, स्वाद, सुगंध, निरोग रहने की क्षमता, टिकाऊपन आदि सभी दृष्टियों से वे बेहतर थे।

विलसन का सबसे बड़ा बेटा चार्ली विलसन तीनों बेटों में अधिक समझदार था। उसने पिता की भारी कमाई से देहरादून और मसूरी में आलीशान भवन बना लिए थे। वह यहीं रहने लगा था। मसूरी में उनका चार्ली विला होटल तब बहुत प्रसिद्ध हो गया था। यह होटल लगभग आधी शताब्दी तक भारतीय और विदेशी अभिजात्यों की सेवा करता रहा। यह भी उल्लेखनीय है कि इसी में अब लालबहादुर शास्त्री प्रशासनिक अकादमी है जहां से भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी कलेक्टर आदि तैयार होते हैं!

राजमा, आलू और गेहूं को भागीरथी घाटी में लाने का श्रेय विलसन को दिया जाता है। गेहूं आने से पहले यहां फाफरा (कोदू, कुट्टू) और रामदाना (चौलाई) की ही खेती की जाती थी। घाटी के लोगों का मुख्य आहार यही था। टिहरी गढ़वाल के ऊंचे तालाबों, तालों में उसने मछलियां भी छोड़ीं।

सन् 1900 के आसपास हरसिल में रावलपिंडी के राजा रामब्रह्मचारी आकर बस गए थे। उन्होंने इस इलाके को समृद्ध करने में खूब योगदान दिया। एक तरह से उन्होंने विलसन के अच्छे माने गए कार्यों को आगे बढ़ाया। सेब के नए बगीचे लगाए। वे यहां आए तो थे अपना घर-बार छोड़कर तपस्वी का जीवन बिताने। उन्होंने तीर्थयात्रियों के विश्राम के लिए हरसिल में चट्टी बनाई थी। टिहरी दरबार

की अनुमति लेकर संगम के टापू में बने लक्ष्मीनारायण मंदिर को बड़ा किया था। बाद में उन्होंने धराली की पंवार लड़की से शादी कर ली थी। 108 बरस की अवस्था में उनका शरीरांत हुआ था।

वापस विलसन या हुलसिंह पर लौटें। शिकार के दौरों में मारे गए पशु-पक्षियों के गोश्त को विलसन अपने सहायक शिकारियों और मुखवा गांव के पंडों में बांट देता था। ठंडे प्रदेश में रहने वाले इन लोगों को मांस-मदिरा से परहेज नहीं था। विलसन बड़े पैमाने पर शिकार करता था, जिससे सवर्णों और दासों दोनों की भोजन संबंधी आवश्यकता पूरी होती थी। वह मुखवा की छोटी-सी बस्ती का अंग बन गया था। सवर्णों में उठने-बैठने लगा था, दासों से घुलमिल गया। मंगितु बाजगी का घर तो जैसे उसका अपना घर बन गया था। मंगितु विलसन के हकैयों और शिकारियों का अगुआ था।

मंगितु की एक बहिन थी- सुवदा। उसकी शादी कहीं भटवाड़ी गोरसाली गांव में हुई थी। किसी बात पर पति का घर छोड़कर वह मायके आ गई थी। मुखवा में ही रहा करती थी। बाद में उसके साथ विलसन का विवाह हो गया। उनकी संतान नहीं हुई। उसके निस्संतान मर जाने पर अपना वंश चलाने के लिए विलसन ने मंगितु की लड़की रायिमता से विवाह कर लिया।

विवाह के बाद विलसन ने अपनी ससुराल वालों को उठाने की कोशिश की। रायिमता के भाई सुबध्यानु को देहरादून के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज में पढ़ने के लिए भेजा गया। हाई स्कूल की परीक्षा करके वह मुखवा वापस आ गया था। पंडों के बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाता था। मुखवा के लोग उसे सुबध्यानु मास्टर कहते थे।

रायिमता से विलसन की तीन संतानें हुईं। सभी का जन्म मुखवा में हुआ। इनके नाम थे- चार्ली, ऐन्द्री (हेनरी) और नत्थू। तीनों टकनौरी बोलते थे। सुक्खी से ऊपरी मुखवा गंगोत्री क्षेत्र टकनौर कहलाता है। हरसिल से जालंधरी नदी के साथ-साथ 'दुखण खाका' होते हुए हिमाचल के किन्नौर क्षेत्र की सीमा है। इस मार्ग से अब भी किन्नौरी लोग गंगोत्री

की तीर्थ यात्रा पर आते हैं। यह मार्ग अगस्त में कुल 15 से 20 दिन के लिए खुलता है। इसी रास्ते से विलसन कुल्लू से सेब आदि फलों के पौधे, आलू के बीज आदि हरसिल लाया था।

विलसन का सबसे बड़ा बेटा चार्ली विलसन तीनों बेटों में अधिक समझदार था। उसने पिता की भारी कमाई से देहरादून और मसूरी में आलीशान भवन बना लिए थे। वह यहीं रहने लगा था। मसूरी में उनका चार्ली विला होटल तब बहुत प्रसिद्ध हो गया था। यह होटल लगभग आधी शताब्दी तक भारतीय और विदेशी अभिजात्यों की सेवा करता रहा। यह भी उल्लेखनीय है कि इसी में अब लालबहादुर शास्त्री प्रशासनिक अकादमी है, जहां से भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी, कलेक्टर आदि तैयार होते हैं।

श्री शेखर पाठक द्वारा संपादित, प्रकाशित
'पहाड़' के नौवे अंक में 'गढ़वाल का फिरंगी राजा' के संपादित अंश।
हिमालय के समाज, संस्कृति, इतिहास तथा पर्यावरण पर केंद्रित यह वार्षिक
आयोजन परिक्रमा, तल्लाडांडा, तल्लीताल, नैनीताल, उत्तराखंड से प्रकाशित होता है।

चुटकी भर नमकः पसेरी भर अन्याय

इरपिंदर भाटिया

जले पर नमक जैसा ही था नमक कर। यह कर कई चुटकियों में आया। शुरूआत होती है सन् 1757 से। अंत में सब चुटकियों का जोड़ कुल मुट्ठी से भी ज्यादा भयानक बन गया था। गांधीजी ने जब सन् 1930 में दांडी जाकर चुटकी भर नमक उठा इस कानून को तोड़ने की योजना बनाई थी तो उनके निकट के कई साथियों को भी इसके पीछे छिपा अन्याय, अत्याचार ठीक से दिख नहीं पा रहा था। गांधीजी ने एक ऐसे ही मित्र की आपत्ति पर बस एक पंक्ति का पत्र लिखा थाः 'नमक बनाकर तो देखिए।' छाया की तरह गांधीजी के साथ रहे श्री महादेवभाई ने भी नमक कर के इतिहास पर न जाने कब अपने व्यस्ततम समय से वक्त निकाल भयानक जानकारी एकत्र की थी। अब इरपिंदर भाटिया हमारा परिचय एक ऐसे अंग्रेज लेखक के काम से करा रही हैं, जिनने पिछले दिनों भारत आकर नमक कानून का बेहद कड़वापन खुद चखा है।

आज से दो महीने पहले यदि कोई मुझसे कहता कि हमारे देश की आज दिख रही गरीबी, दीन-हीन स्थिति और मौजूदा भ्रष्टाचार, कंपनी बहादुर व ब्रिटिश शासन का सारा छल कपट, फरेब और अंधे लालच और

देश के रजवाड़ों का बिकाऊपन का सारा का सारा लेखा-जोखा एक बहुत ही जरा-सी मामूली चीज के कारोबार में अपनी सारी झलक दिखा देता है तो भला कैसे विश्वास होता! लेकिन ये सच है।

मार्च 2008 में अहमदाबाद में गांधी-कथा के बाद बातचीत में श्री नारायण भाई देसाई ने जोर देकर कहा था कि बापू के नमक सत्याग्रह की तह तक पहुंचना है तो रॉय मॉक्सहम की पुस्तक 'दी ग्रेट हैज' जरूर पढ़ना। पुस्तक का शीर्षक बड़ा ही अटपटा है। अंग्रेजी में हैज शब्द का अर्थ बागड़, या बाड़ होता है। वह भी झाड़ी वाली बाड़। वह भी खूब लंबी चौड़ी। ऐसे शीर्षक वाली पुस्तक का नमक के कर से भला क्या संबंध?

अहमदाबाद से दिल्ली लौटकर इस किताब की तलाश की। उस तक मैं कैसे पहुंची यह अपने आप में एक किस्सा है। पर वह सब फिर कभी। रॉय की यह पुस्तक पूरे सबूतों के साथ इसे बताती है कि 350 वर्षों के ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों ने उन्हीं की कहानियों में मिलने वाले एक खलनायक ड्रेकुला की तरह करोड़ों भारतीयों का खून ही नहीं चूसा बल्कि उन्हें नमक जैसी जरूरी चीज से वंचित कर उनके हाड़-मांस-मज्जा का पीढ़ियों तक क्षय कर दिया था। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। शरीर विज्ञान के शोध बताते हैं कि नमक हमारे खून का एक बहुत जरूरी हिस्सा है। और शरीर में इस तत्व का घाटा शरीर के लिए बेहद घातक और तरह-तरह के रोग पैदा करता है। यह नमक हमारे दुधारू पशुधन के लिए भी उतनी ही जरूरी चीज है। ईस्ट इंडिया कंपनी ने हमारे देश में आने के बाद पुरानी सिंचाई व्यवस्था को बिना सोचे-विचारे बदल दिया था। उसके कारण आए भयंकर सूखे और अकाल के समय लाखों लोग और उनके पशु नमक की कमी के कारण मरे हैं।

रॉय कई बार भारत यात्रा कर चुके थे। सन् 1995 में कलकत्ता में पुरानी किताबों की एक दूकान पर रॉय मॉक्सहम को मेजर जनरल स्लीमन की एक दिलचस्प पुस्तक मिली। इस पुस्तक के फुट नोट्स में रॉय को एक उद्धरण मिलाः

"नमक पर लागू किए गए कर वसूलने के लिए एक ऐसी अमानवीय व्यवस्था गढ़ी गई जिसके समानान्तर व्यवस्था दुनिया के किसी भी समय और शिष्ट देश में नहीं मिलेगी। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक कस्टम लाईन बनाई गई है। सन् 1869 में सिंधु नदी से लेकर महानदी तक फैली इस 2,300 मील लंबी लाईन की सुरक्षा के लिए लगभग 12,000 आदमी तैनात थे। यह कस्टम लाईन कटीली झाड़ियों और पेड़ों से बनी एक भीमकाय लंबी और अभेद्य बाड़ के रूप में थी।"

'द फिनांसेस एंड पब्लिक वर्क्स ऑफ इंडिया सन् 1869-1881' से लिए गए इस उद्धरण से समझ में आएगा कि चुटकी भर नमक के ऊपर लगे पसेरी भर कर का भयानक वर्णन करने वाली इस पुस्तक का नाम लेखक रॉय मॉक्सहम ने बाड़ से जोड़कर कैसे रखा है।

350 वर्षों के ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों ने उन्हीं की कहानियों में मिलने वाले एक खलनायक ड्रेकुला की तरह करोड़ों भारतीयों का खून ही नहीं चूसा बल्कि उन्हें नमक जैसी जरूरी चीज से वंचित कर उनके हाड़-मांस-मज्जा का पीढ़ियों तक क्षय कर दिया था। यह कोई अतिश्योक्ति नहीं है।

मॉक्सहम खुद अंग्रेज हैं। उन्हें इस प्रारंभिक जानकारी से बड़ा अचरज हुआ। उन्हें लगा कि भारत में राज करने आए अंग्रेज कितने बेहूदे, मूर्ख थे। क्रूर तो थे ही। उनने इसके बारे में खोजबीन शुरू की। लेकिन आश्चर्य उन्हें भारत में अंग्रेजी राज के इतिहास की किसी भी पुस्तक में इस बाड़ का कहीं कोई जिक्र ही नहीं मिला। जरा से नमक के लिए इतना अन्याय।

उन्होंने इस नमक कर की तह तक जाने की लड़ाई, खोज जारी रखी। खोजते-खोजते आखिर उन्हें श्री स्ट्रेची द्वारा लिखी एक पुस्तक मिल गई। फिर जल्द ही कुछ नक्शे भी मिल गए, जिन पर इस लंबी चौड़ी बाड़ को दर्शाया गया था। खुलासा हो गया कि कहीं हरे-भरे, कहीं सूखे कंटीली झाड़-झाड़ियों, बेलों और वृक्षों और कहीं-कहीं थोड़े बहुत पत्थरों की चुनाई की बनी यह बागड़ सचमुच थी। रॉय ने इसे नक्शों से जमीन

पर उतार कर खोजने का मन बना लिया था। सितंबर में अपनी घनिष्ट मित्र दिट्ठी के भतीजे संतोष को साथ ले रॉय ग्वालियर जा पहुंचे। उन्हें पूरा भरोसा था कि नक्शों और आसपास के गांवों के बड़े-बूढ़ों की मदद से वे कस्टम लाईन यानी बाड़ को खोज लेंगे।

जैसा नक्शे में दिखाया था, यमुना के आजू-बाजू उसकी सहायक नदी चंबल, उसमें मिलने वाली अन्य कई छोड़ी-बड़ी नदियों के आसपास जलाऊं, जगमापुर, सुरावन, गोहन और फिर झांसी– रॉय ने सभी जगह पर अन्याय की इस बागड़ को खोजा, लोगों से पूछा। न जमीन पर बाड़ का कोई नामो-निशां मिला और न मिले उस बाड़ की बाबत जानने वाले बड़े-बूढ़े। रॉय कोई शोधकर्ता तो थे नहीं। वे अपनी जिंदगी चलाने लंदन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में दुर्लभ पुरानी पुस्तकों के संरक्षण की देखभाल की नौकरी करते थे। यहां वे इस बागड़ के तलाश में छुट्टी लेकर अपने खर्च से आए थे। अब छुट्टियां खत्म हो गई थीं। निराश रॉय इंग्लैंड वापस लौट गए, लेकिन इस निर्णय के साथ कि अगले साल फिर से खोजने आएंगे महा-बाड़।

अगले एक साल में रॉय मॉक्सहम ने अपनी नौकरी करते हुए मेहनत से समय निकाला और वे भारत में नमक के कारोबार और कर का गहरा अध्ययन वहीं रहते हुए करते रहे। आखिर उन्होंने आगरा जिले का एक बहुत बड़ा नौ गुणा नौ फुट का नक्शा खोज निकाला। इस नक्शे पर अक्षांश और देशांतर समेत उन्हें बाड़ का पूरा खाका मिल गया। भारत की जमीन पर बाड़ खोजना अब उन्हें बहुत आसान लगने लगा था। यह नक्शा, एक कंपास और एक आधुनिक ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम नामक यंत्र लेकर रॉय फिर से भारत लौटने की तैयारी करने लगे।

अपने इस गहरे अध्ययन से रॉय को मालूम चला कि भारतीयों को नमक से वंचित करने की कहानी सन् 1757 में राबर्ट क्लाईव की बंगाल विजय से शुरू हुई थी। बंगाल विजय के तुरंत बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने ऐसी बहुत-सी जमीन खरीदी, जिस पर नमक उद्योग चलता था। रातों-रात कंपनी ने जमीन का किराया दुगना कर दिया और नमक पर निकासी कर लगा दिया। एकाएक नमक का दाम दुगना-तिगुना हो गया।

सन् 1764 में क्लाईव ने मुगलों को हरा कर बिहार, उड़ीसा और बंगाल की दीवानी और सारी आय अपने हाथों में ले ली। क्लाईव के नेतृत्व में कंपनी के 61 वरिष्ठ अधिकारियों ने एक नई कंपनी बना ली। इसका नाम रखा एक्स्क्लूसिव कंपनी। नमक, सुपारी व तेंदु पत्तों के व्यापार पर एकाधिकार इस कंपनी को दे दिया गया। अब कंपनी को छोड़ नमक के व्यापार से जुड़े सभी लोगों का कारोबार चौपट हो गया था। कंपनी के नमक के अलावा कोई और नमक न पैदा हो सकता था, न बेचा जा सकता था।

फिर सन् 1780 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल में नमक का समस्त उत्पादन भी अपने अधिकार में ले लिया। इसके साथ ही नमक पर लगा टैक्स और बढ़ा दिया। इससे उसका दाम तो बढ़ना ही था। सन् 1780 में नमक कर से कंपनी को 70 लाख पौंड की कमाई हुई थी। बेमाप टैक्स के कारण नमक का दाम इतना बढ़ गया कि नमक का दाम आदमी की पहुंच के बाहर होने लगा। जरा सोचिए कि नमक जैसी चीज साधारण चौके से, मसालदान से बाहर हो गई। और फिर अमीरों भर की पहुंच में रह गई। तब आसपास के रजवाड़ों और खास कर उड़ीसा की खिलारियों का, नमक क्यारियों का सस्ता और बेहतरीन नमक चोरी-छुपे बंगाल में आने लगा। इससे नई बनी कंपनी के नए अनैतिक व्यापार को नुकसान होने लगा। लो, इसे रोकने के लिए सन् 1804 में कंपनी ने उड़ीसा पर चढ़ाई कर वहां का भी सारा का सारा नमक उत्पादन अपने कब्जे में ले लिया।

सन् 1780 में नमक कर से कंपनी को 70 लाख पौंड की कमाई हुई थी। बेमाप टैक्स के कारण नमक का दाम इतना बढ़ गया कि नमक का दाम आदमी की पहुंच के बाहर होने लगा। जरा सोचिए कि नमक जैसी चीज साधारण चौके से, मसालदान से बाहर हो गई। और फिर अमीरों भर की पहुंच में रह गई।

सदियों से उड़ीसा के समुद्री तट पर नमक बनाने वाले हजारों-हजार मलंगी, अगरिया परिवार या तो बेरोजगार हो गए या फिर अंग्रेजों के

दास। जो चोरी छुपे इस पुश्तैनी धंधे में लगे रहे, उन्हें कंपनी ने अपराधी बता दिया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के लोग सस्ते नमक को तरसने लगे। नमक की चोरी, अवैध उत्पादन, मिलावट और नमक की तस्करी जोर पकड़ने लगी। समुद्र किनारे बसे जो प्रदेश समुद्र के खारे पानी को क्यारियों में फैलाकर सूरज की किरणों से सहज ही नमक बनाकर समाज में बेहद सस्ते दाम पर बेचते थे– वह सारा कारोबार, संगठन एकाएक गैरकानूनी हो गया। उसे बनाने, खरीदने वाले अपराधी बन गए। दो धड़े बन गए। हर हाल में नमक का पूरा-का-पूरा टैक्स वसूलने के लिए लामबंद कंपनी का सख्त प्रशासन। और सस्ते नमक पाने के लिए तरसते साधारण जन। इसी से जन्म हुआ कस्टम लाईन का जो आगे चल कर महा-बाड़ बन गई– नमक का कर वसूल करने के लिए।

रॉय बताते हैं कि नवंबर 1998 में जब वे फिर से बाड़ खोजने के लिए भारत लौटे तो वे समझ चुके थे कि यह महा-बाड़ किन्ही दो-चार अंग्रेज अधिकारियों का बेहूदा फितूर नहीं था। यह आम भारतीयों को सहज उपलब्ध नमक से वंचित रखने के लिए तैयार किया गया एक पक्का षडयंत्र था। इसे बेदह कड़ी निगरानी और बेरहमी से लागू करने में कई प्रबुद्ध अंग्रेज अधिकारी तैनात किए गए थे।

सन् 1878-79 में भयंकर अकाल पड़ा था। उस समय खाने-पीने की बाकी चीजों के दाम अभी छोड़ दें– नमक का दाम था 12 रुपए मन, जबकि एक आम आदमी की कमाई थी ज्यादा से ज्यादा तीन रुपए महीना। अकाल हो, सूखा हो, बाढ़ या महामारी, अंग्रेज ने नमक के कर में कभी छूट नहीं दी। खैर एक बार फिर से रॉय मॉक्सहम और उनके साथी संतोष झांसी, जलाऊं, इटावा, आगरा और ललनपुर के नक्शों, एक अदद कंपास और जी.पी.एस. से लैस होकर कस्टम लाईन बनाम बागड़ की खोज में निकल पड़े।

कैसे विकसित हुई ये बाड़? इसके पीछे एक दिलचस्प कहानी है। नमक के टैक्स की पूरी और पक्की वसूली के लिए, सब से पहले कंपनी प्रशासन ने हर जिले में एक कस्टम चौकी नाका बनाया था। यहां से कर चुकाने के बाद ही नमक आगे जा सकता था। फिर उसने पाया कि नमक

की तस्करी होने लगी है। लोग चोरी-छिपे बिना कर चुकाए नाके से नमक आगे ले जाते हैं। यानी तस्करी रोकने के लिए ये चौकियां काफी नहीं हैं, खास कर घनी आबादी वाले क्षेत्रों में तो बिल्कुल भी नहीं। 1823 में कंपनी ने यमुना के लागे-लागे सभी सड़कों, रास्तों और व्यापार मार्गों पर भी कस्टम चौकियों की एक श्रृंखला तैनात कर दी। चौकियों की यह दूसरी श्रृंखला बढ़ती गई और लंबी होती चली गई।

1834 में प्रशासनिक निर्णय हुआ कि चौकियों की दो श्रृंखलाओं को मिला कर एक किया जाए और सभी चौकियों को आपस में जोड़ दिया जाए। चौकियों की यही अनवरत श्रृंखला आगे चलकर 'परमट लाईन' यानी महा बागड़ बनी। कितनी सख्त-करख्त और जबर्दस्त थी बाड़ की व्यवस्था, देखिए:

हर एक मील पर चौकी। चौकी पर गार्ड दस्ता। हर दो चौकियों को जोड़ता एक ऊंचा पुश्ता। पुश्ते पर 20-40 फीट चौड़ी और लगभग 20 फीट ऊंची कहीं सजीव कहीं सूखी, कंटीली बाड़। हर एक मील पर एक जमादार तैनात। हर जमादार के नीचे दस गुमाश्ते। दिन-रात लगातार गश्त। होशियार। होशियार बिना नमक का कर अंग्रेजों को चुकाए गलती से भी कोई हिंदुस्तानी कहीं नमक न खा जाए।

हर एक मील पर चौकी। चौकी पर गार्ड दस्ता। हर दो चौकियों को जोड़ता एक ऊंचा पुश्ता। पुश्ते पर 20-40 फीट चौड़ी और लगभग 20 फीट ऊंची कहीं सजीव, कहीं सूखी, कंटीली बाड़। हर एक मील पर एक जमादार तैनात। हर जमादार के नीचे दस गुमाश्ते। दिन-रात लगातार गश्त। होशियार। होशियार बिना नमक का कर अंग्रेजों को चुकाए गलती से भी कोई हिंदुस्तानी कहीं नमक न खा जाए।

जी.पी.एस. यंत्र और बड़े नक्शे की मदद से रॉय और संतोष झांसी, ओरछा, ग्वालियर और आगरा में बाड़ के अक्षांश, देशांतर को पकड़ कर मीलों मील चले लेकिन बाड़ फिर भी नहीं मिली। छुट्टियां खत्म होने पर रॉय एक बार फिर इंग्लैंड लौट गए। रॉय ने तय किया कि जिस बाड़ को

एलन ओकेटवियन ह्यूम ने अंग्रेजी कर्मठता और दृढ़निश्चय की अनूठी मिसाल कहा, जिसे उनने चीन की दीवार का दर्जा दिया, उस बाड़ को ढूंढूंगा जरूर।

इन्हीं ह्यूम का कहना था कि "आगरा, दिल्ली और सागर जिले के नमक तस्कर ऐसे अपराधी हैं जिन के प्रति कोई सहानुभूति नहीं बनती। कानूनन इन्हें सख्त से सख्त सजा मिलनी चाहिए। छह महीने की बामशक्कत कैद और जुर्माना ऐसा, जिसे भरना इनके बूते के बाहर हो।"

इस बार इंग्लैंड में रॉय ने भारत में ब्रिटिश काल की वार्षिक रिपोर्टों का अध्ययन किया। उनने पाया कि देश भर में हर वर्ष कस्टम लाईन पर हजारों नमक तस्कर पकड़े जाते थे। हजारों को सजा मिलती थी। गुमाश्तों और तस्करों के बीच झगड़े-फसाद, मार-पीट और हिंसा की कई वारदातें उन्हें इन रिपोर्टों में दर्ज मिलीं। भयानक पिटाई के कारण कई तस्करों के मारे जाने की भी घटनाएं थीं। सन् 1874-75 में एक पूरा का पूरा गांव विद्रोह में उठ खड़ा हुआ था। रिपोर्ट में आगे दर्ज है कि विद्रोह के लगभग सभी सरगने धर लिए गए और कईयों को कड़ी सजा मिली। सबसे लंबी सजा थी बारह वर्ष, जी हां नमक चुराने की!

रॉय मॉक्सहम कहते हैं कि बाड़ मिलने की मुझे बहुत खुशी होनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं है। मैं जब इस महा बाड़ के बारे में सोचता हूं तो मुझे उन लाखों भारतीयों की याद आती है जो थोड़े से नमक के लिए इस बीहड़ बाड़ से जूझते थे। मेरा मन उदास हो जाता है।

नवंबर 1998 एक बार फिर जी. पी.एस. और नक्शों से लैस रॉय मॉक्सहम और संतोष महाबाड़ की खोज में निकले। इस बार उनका मुकाम था चंबल के बीहड़। एरिक में उन्हें मिले हनुमान मंदिर के पुजारी राधेश्यामजी जो कभी यहां बीहड़ में डकैत हुआ करते थे। राधेश्यामजी कस्टम लाईन से खूब वाकिफ निकले और रॉय और संतोष को सीधे आगे ले गए।

आखिरकार विशालकाय इमली के दो वृक्षों से चलती कस्टम लाईन की एक रेखा उन्हें मिल गई। कई जगह पर यह रेतीला रास्ता खेतों का हिस्सा बन चुका था। आसपास के कई किसान कस्टम लाईन से खूब परिचित थे और उत्साह से आगे बढ़कर इन खोजी मित्रों की पूरी मदद कर रहे थे। कस्टम लाईन पर कई जगह सिलसिलेवार बेर की झाड़ियां मिलीं। रॉय और संतोष ने ढेरों फोटो खींचे और लौट आए।

रॉय के मन में एक कसक थी। ये कस्टम लाइन तो है पर महाबाड़ नहीं। इसी कसक के कारण अगले दिन रॉय और संतोष ने फिर इटावा का रास्ता पकड़ा। चंबल के किनारे पालीधर गांव में उन्हें श्री पी.एस. चौहान मिले। एक कॉलेज के रिटायर्ड प्रिंसीपल। चौहान साहब सीधे उन्हें ले गए अपने गांव के किनारे। सामने खेतों के बीचों-बीच दूर तक जा रहा था बीस फुट चौड़ा एक पुश्ता। इस पुश्ते पर यानि कस्टम लाईन पर चढ़कर तीनों आदमी साथ-साथ आगे चलने लगे। चलते-चलते एकाएक कस्टम लाईन एक बागड़ में बदलने लगी। ऊंचे पुश्ते पर मिलने लगे, बेर, बबूल, कीकर और खैर के कंटीले झुंड, कहीं-कहीं बीस-बीस फीट ऊंचे। जहां-तहां ढेरों नागफणियां और तरह-तरह की कटीली झाड़ियां। यहां पुश्ता पूरा चालीस फीट चौड़ा था। तो आखिर रॉय ने महाबाड़ खोज ही ली! तो ये थी वो अभेद्य बाड़, जिसे किसी भी आदमी, जंगली जानवर, हाथी, घोड़े, बैलगाड़ी के लिए सहज ही पार करना असंभव था। कुछ दूर तक यों ही चलते-चलते धीरे-धीरे बाड़ क्षीण होते-होते खत्म हो गई।

सन् 1825 में भारतीय ब्रिटिश सरकार का कुल राजस्व था अस्सी करोड़ पाऊंड। इसमें से पच्चीस करोड़ पाऊंड बटोरा गया था सिर्फ नमक के कारोबार से। यानी चुटकी भर नमक अंग्रेज के खजाने में भारत से होने वाली आमदनी का लगभग तीसरा हिस्सा था। इस महा बाड़ और अंग्रेज के लालच की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। उधर बाड़ की अभेद्यता और नमक की तस्करी रोकने की सफलता चरम पराकाष्ठा तक पहुंची और इधर ब्रिटिश प्रशासन की राय बदलने लगीः

ब्रिटिश शासन के बाहर रजवाड़ों का सारा नमक उत्पादन अंग्रेज अपने अधिकार में ले ले, नमक पैदा होने की जगह पर ही एक मुश्त टैक्स

लगा दे और काम खत्म। अगले कुछ ही सालों में डरा-धमका कर खिला-पिला-फुसलाकर अंग्रेज प्रशासन ने औने-पौने दामों पर रजवाड़ों के नमक का सारा उत्पादन हथिया लिया।

फिर सन् 1879 में ब्रिटिश प्रशासन ने पूरे भारत में नमक पर एक सरीखा शुल्क लागू कर दिया। सस्ता नमक पूरे देश में समाप्त हो गया। न सस्ता नमक रहा, न रही तस्करी। 1879 के इस कर-एकीकरण के बाद महा बाड़ को अपने हाल पर छोड़ दिया गया।

रॉय मॉक्सहम कहते हैं कि बाड़ मिलने की मुझे बहुत खुशी होनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं है। मैं जब इस महा बाड़ के बारे में सोचता हूं तो मुझे उन लाखों भारतीयों की याद आती है जो थोड़े से नमक के लिए इस बीहड़ बाड़ से जूझते थे। मेरा मन उदास हो जाता है।

ठीक कह रहे हैं रॉय। लेकिन मेरा मन इससे भी ज्यादा उदास होता है, ये सोचकर कि इसी बाड़ की जड़ों से उपजी थी भ्रष्टाचार की एक ऐसी लीक जो आज तक हमारी संस्कृति को दीमक की तरह चाट रही है! भ्रष्टाचार के जो ओछे और तुच्छ रूप हम आज चारों तरफ देखते हैं, वे सब अंग्रेज की विरासत हैं। इसके बारे में फिर कभी।

इरपिंदर भाटिया सामाजिक विषयों पर फिल्म बनाती रही हैं। अब धीरे-धीरे ऐसे कामों से अपने को खींच कर वे अपनी शक्ति सीधे सामाजिक कामों में लगा रही हैं।

सौ वर्ष पूरे हुए हैं, हिन्द स्वराज को लिखे हुए। पुस्तक में 'स्वराज क्या है' नामक अध्याय में पाठक संपादक से कहता है कि "अंग्रेजों के राज-कारोबार से देश कंगाल होता जा रहा है। वे हर साल देश से धन ले जाते हैं।" कड़वी सचाई के इस लंबे संवाद से कोई सड़सठ बरस पहले की एक सच्ची घटना का वर्णन है फिरंगी राजा के इस किस्से में। इसमें अच्छा-बुरा सब कुछ है। हिन्द स्वराज में गांधीजी ने अपने इस पाठक से कहा था कि "अच्छा हम मान लें कि हमारी मांग के मुताबिक अंग्रेज चले गए। उसके बाद आप क्या करेंगे।" पाठक का जवाब था, "उनका बनाया हुआ विधान हम चालू रखेंगे और राज का कारोबार चलाएंगे।" तब गांधीजी ने कहा थाः "आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं।" किस्सा यही बताता है कि बाघ गया पर उसका स्वभाव आज भी बना हुआ है।

लेख 'एक फिरंगी राजा' और 'चुटकी भर नमकः पसेरी भर अन्याय'
गांधी शांति प्रतिष्ठान की पत्रिका 'गांधी मार्ग' के वर्ष 52 अंक 1 और वर्ष 50 अंक 6 से साभार।
गांधी मार्ग के एक पाठक द्वारा वितरित

संपादनः अनुपम मिश्र ☐ चित्रः दिलीप चिंचालकर ☐ मुद्रणः सिस्टम्स विज़न
जनवरी 2010